# वैदिक ग्रन्थों एवं यज्ञों में पशुहिंसा-विधान की भ्रान्ति का कारण और उसका वास्तविक स्वरूप

(ले.-डा. प्रशस्यमित्र शास्त्री, एम.ए., पी.एच.डी., रायबरेली)

महाभारत युद्ध के बाद मध्यकाल में वैदिक यज्ञों के यथार्थ स्वरूप को ठीक से न समझने के कारण उनमें अनेक विकृतियों का शनैः शनैः समावेश होता गया। बाद में तो इन विकृतियों का इतना अधिक व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ कि श्रौतयज्ञों में बेचारे मूक पशुओं की हत्या करके उनके रुधिर, मांस, मज्जा आदि से अग्नि में आहुति देना एक साधारण सी घटना मानी जाने लगी। इसी कारण तत्कालीन श्रौतसूत्रों की रचना में यत्र तत्र पशुहिंसा को भी स्थान दिया जाने लगा।

उन दिनों किए जाने वाले वैदिक यज्ञों में इस विशाल एवं कुत्सित हिंसा-कार्य को देखकर ही भगवान बुद्ध जैसा दयालु महात्मा और अहिंसा-प्रिय व्यक्ति इन तथाकथित श्रौतयज्ञों एवं इनके निष्पादक अज्ञानग्रस्त ब्राह्मण-पण्डितवर्ग का घोर विरोधी बन गया था। सच पूछा जाय तो बौद्ध धर्म का उदय ही इन यज्ञों में घोर बीभत्स हत्याकाण्ड को देखकर अहिंसा और जीवों पर दया की पृष्ठभूमि में हुआ। स्वर्ग या अदृष्टलाभ की कामना से यज्ञ करने और कराने वाले इन तथाकथित ब्राह्मणों ने यज्ञिय कर्मकाण्डों में खुले आम धर्म के नाम पर साधारण जनता में पशुहिंसा के जिस ताण्डव रूप का प्रचार और प्रसार किया उसका दृष्टांत विश्व इतिहास में दुर्लभ है।

इन गर्हित याज्ञिक परम्पराओं ने परवर्तीमध्ययुगीन वैदिक भाष्यकारों पर भी इतना प्रभाव डाला कि आज से ३००-४०० वर्ष पूर्व तक के समस्त-आचार्य सायण, उवट, महीधर प्रभृति भाष्यकारों के वेदभाष्यों में यज्ञिय पशुहिंसा का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इस अवैज्ञानिक, अप्रामाणिक और अशास्त्रीय विचार धारा पर घोर प्रहार सर्वप्रथम १९वीं शती में महर्षि दयानन्द के नवीन तथा प्रामाणिक वेदभाष्य के द्वारा ही संभव हुआ।

यज्ञ शब्द का ही एक पर्यायवाची शब्द 'अध्वर' है। यह हिंसार्थक 'ध्वृ' धातु से निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'ध्वर' शब्द का अर्थ हुआ हिंसा तथा 'अध्वर' शब्द का अर्थ ही हिंसा का अभाव या अहिंसा है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने भी लिखा है –

अध्वर इति यज्ञनाम। ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। (निरुक्त १।८)

अब उन स्वयंम्भू पण्डितों से ही पूछना चाहिए कि इस अध्वर या हिंसारहित यज्ञ में मूक पशुओं की हत्या क्यों और कैसे उचित मानी जा सकती है ?

### हव्य अन्न ही पशु(रूप) है

महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है –

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः।

अर्थात् यज्ञविधान में पशुहिंसा प्राचीन काल से अन्न की ही होती है। यह अन्न किस प्रकार पशुरूप में प्रयुक्त है इस सन्दर्भ में निम्न प्रमाण ध्यान देने योग्य है –

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मषकास्तुषाः। (अर्थववेद ११।३।५) श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्। (अर्थववेद ११।३।७)

अर्थात् चावल के कण ही अश्व हैं; चावल ही गौ हैं, भूसी ही मषक हैं चावलों का जो श्याम भाग है वही मांस है तथा जो लाल अंश है वह रुधिर है।

धाना धेनुरभवत् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्। (अथर्ववेद १८।४।३२)

अर्थात् धान ही धेनु है, जब कि तिल उसके छोटे बछड़े हैं। अनेक धानों का नामोल्लेखपूर्वक परिगणन करते हुए अथर्ववेद में ही लिखा है –

एणीर्धाना हरिणी श्येनीरस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते। तिलवत्सा ऊर्जमस्मै.....। (अर्थववेद १८।४।३४)

अर्थात् श्येनी, हरिणी, रस्या, कृष्णा, रोहिणी आदि धान्यविशेष ही धेनु हैं, इनके तिलरूपी बछड़े हमें बल प्रदान करें.....।

स्वल्प पाठभेद से विद्यमान आरण्यक के निम्न वाक्य से भी यही भाव ध्वनित होता है –

एणीर्धाना हरिणीरर्जुनीः सन्तु धेनवः। तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः।(तैत्तिरीय आरण्यक ६।७।१)

इन प्रमाणों से यही संकेत मिलता है कि यज्ञ-हवन प्रकरण में जहां जहां अश्व, अजा, गो, मांस, अस्थि प्रभृति शब्द आते हैं, उनसे अन्न का ही ग्रहण करना चाहिए, पशुओं या उनके अवयवों का नहीं।

### बघह्मण ग्रन्थों के विशिष्ट प्रमाण

अब हम अपनी पूर्वोक्त स्थापना के सन्दर्भ में ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ विशिष्ट प्रमाणों को भी प्रस्तुत कर रहे हैं। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में लिखा है –

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदाऽऽप आनयत्यथ त्वग् भवति। यदा संयौत्यथ मांसं भवति। यदा शृतोऽथाऽस्थि भवति.....आदि। (शतपथ ब्राह्मण १।२।३।७-८)

अर्थात् जो पिसान या आटा है उसी की लोम संज्ञा है। जब उसमें पानी मिलाया जाता है तब वह 'त्वचा' कहलाता है, जब उसे सानते या गूंधते हैं तब उसे 'मांस' नाम से अभिहित किया जाता है, जब उसे तपाकर पुरोडाश के रूप में पकाते हैं तब वह 'अस्थि' या हड्डी कहा जाता है, जब उस में घृत डालकर सिंचित करते हैं तब वह 'मज्जा' नाम से अभिहित होता है। इस तरह यह पूर्ण सम्पन्न पुरोडाशरूप हव्य पदार्थ ही यज्ञ में 'पशु' संज्ञा वाला होता है।

यज्ञिय पदार्थों के कुछ इसी प्रकार के पारिभाषिक नाम ऐतरेय ब्राह्मण में भी गिनाए गए हैं। ऐतरेय के इस निम्न प्रस्तुत उद्धरण को पढ़कर उन मूर्ख अज्ञानो तथाकथित निर्दयी पण्डितों की आंखें खुल जानी चाहिए जो वैदिक यज्ञों में आज भी पशुहिंसा को स्वीकार करते है

तथा साथ ही 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इस स्वकपोलकल्पित नाद का उद्घोष भी करते रहते हैं । वास्तव में ऐसे लोगों ने कभी भी प्राचीन वैदिक 'पशु' के यथार्थस्वरूप को समझने का प्रयास न करके मात्र मध्यकालीन श्रौतसूत्रों एवं वेदभाष्यकारों को ही प्रामाणिक मानते हुए अपनी आंखें बन्दकर उनका अन्धसमर्थन करने का ही प्रयास किया है –

"सवा एष पशुरेवाऽऽलभ्यते यत्पुरोडाशस्तस्य यानि किंशारूणि तानि रोमाणि, या तुषाः सात्वग् ये फलीकरणास्तदसृग्, यत्पिष्टं किक्नासास्तन्मांस, यत्किञ्चित्कंसारं तदस्थि, सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते" । (ऐतरेय ब्राह्मण २।९)

अर्थात् यह जो द्रव्य पुरोडाश अन्न है वही पशु(= रूप) है। इसमें अनाज बालियों का अग्रभाग ही रोमरूप है, जो भूसी है वही त्वचा है, भूसी में छिपा कच्चा(दूधिया) दाना ही रूधिर है, इन दानों को पीस कर जब पानी के साथ गूंधा जाता है तब वह 'मांस' बन जाता है, जब इसे अग्नि में पका देते हैं तब यही पुरोडाशरूप अन्न 'अस्थि' नाम से अभिहित होता है। इस प्रकार इस पुरोडाश से जो हवन करता है वह पशुमेध करता है।

अब तटस्थ एवं निष्पक्ष विद्वान पाठकों से हमारा अनुरोध है कि कृपया वे बतावें कि पूर्वोक्त उद्धरणों के द्वारा क्या कोई कभी यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि पशुमेध में पशु की हत्या करके उसे यज्ञ की अग्नि में झोंक देवे ? यहां स्पष्ट ही संकेतित है कि पिसे हुए अन्न से निर्मित पुरोडाश को ही पशुमेध में हवनीय पशु के रूप में मान्यता प्राप्त है तथा उसे ही पशुरूप में जानना उचित भी है।

यही नही, विशाल वैदिक साहित्य में सैकड़ों ऐसे उद्धरण और प्रबल प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा हमें यह अत्यन्त स्पष्ट रूप में विदित होता है कि यज्ञ-हवन में प्रयुज्यमान सामग्री अर्थात् दूध, घी, अन्न तथा अन्य नाना प्रकार की सुगन्धित व पुष्टिकारक ओषधियों, पक्वान्न पुरोडाश आदि को ही यज्ञिय भाषा में 'पशु' नाम से अभिहित किया गया है। इस संदर्भ में हम कुछ और प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे जिज्ञासू व्यक्ति सत्यासत्य के निर्णय करने में स्वयं समर्थ हो सकें।

माध्यन्दिन शतपथ ब्राम्हण में 'पशु' को समस्त देवताओं के लिए हवि बताते हुए लिखा है- –

सर्वासां देवतानां हविःपशुः (शतपथ ब्राम्हण ३।८।३।१४) ।

ऐतरेय में भी लिखा है कि 'पशु' ही हवि है –

हविर्हि पशवः (ऐतरेय ब्राह्मण ५/६)

यह पशु या पशुरूप हवि क्या है इसके सम्बन्ध में वेद संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के निम्न वाक्य अति महत्त्वपूर्ण हैं । मैत्रायणी संहिता में तीन विभिन्न स्थलों पर लिखा है –

एते वै पशवो यद् व्रीहयश्च यवाश्च ।

(मैत्रायणी संहिता १।६।११, २।३।१ तथा ४।३।६)

अर्थात् व्रीहि, यव आदि यज्ञिय अन्न ही 'पशु' नाम से अभिहित किये जाते हैं ।

अन्न ही पशु है इस बात का उल्लेख अन्यत्र भी द्रष्टव्य है । जैसे –

अन्नं पशव : (काठक संहिता १९/१०, कपिष्ठलकठ संहिता ३०/८, ऐतरेय ब्राह्मण ५/१९, जैमिनीय ब्राह्मण १।३०५, ३०६ तथा २०७, शतपथ ब्राह्मण ६।२।१।१५ तथा ७।५।२।४२)

पशवो वाऽनम् (शतपथ ब्राह्मण ४।६।६।१)

पशुर्वा अन्नम् (शतपथ ब्राह्मण ५।१।३।७)

अन्नम् उ पशवः (जैमनीय ब्राह्मण ३।१४१)

अन्नं की 'गो' नाम से भी जाना जाता है –

अन्न वै गौः (जैमनीय ब्राह्मण १।२१५ तथा तैत्तरीय ब्राह्मण ३।९।८।३)

धानों को भी 'पशु' नाम से कहा गया है –

पशवो वै धानाः (मैत्रायणी संहिता ४।७।४ कौषतकी ब्राह्मण १८।६ तथा गोपथ ब्राह्मण२।४।६)

जैसा कि पहले बताया गया है कि अन्न निर्मित पुरोडाश का नाम भी 'पशु' है इस सन्दर्भ में निम्न प्रमाणों का अवलोकन करें –

पशुः पुरोडाशः (काठक संहिता २१।१)

पशवो वै पुरोडाशाः (तैत्तरीय संहिता ७।१।९।१ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण १।८।६।३ एवं ताण्डय ब्राह्मण २१।१०।१०)

पशु र्ह वाऽएष आलभयते यत्पुरोडाशः । (माध्यन्दिन शतपथ १।२।३।५)

पशो र्वै प्रतिमा पुरोडाशः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।२।८।८)

### 'आलभन' का अर्थ स्पर्श करना है 'मारना' नहीं

पशु का 'आलभंन' का अर्थ पशु को मार डालना भी मध्ययुगीन धूर्तों का अज्ञानजन्य अर्थ ही है । 'आङ्'. उपसर्ग पूर्वक 'लभ' धातु का अर्थ मारना या यज्ञ में हिंसा करना कहीं भी निर्दिष्ट नहीं है, सिवाय उन अज्ञानी ब्राह्मणों के स्वरचित हिंसा परक विनियोग के । आङ् पूर्वक 'लम्भ' धातु का प्रयोग अवश्य हिंसा अर्थ में उपलब्ध होता है । किन्तु यज्ञों में सर्वत्र ही पशु के 'आलभन' का विधान है 'आलम्भन' का नहीं । पाणिनीय धातुपाठ में तो 'लम्भ' धातु भी नही है । संभवतः इस 'लभ' धातु को ही बाद में 'लम्भ' के रूप में मान कर दोनों को ही एक समझकर हिंसार्थक 'लम्भ' का अर्थ भी 'लभ' में ही समाहित कर लिया गया । अति प्राचीन वैदिक वाङ्मय में कहीं भी 'आ+लभ' का अर्थ हिंसापरक किया गया हो, ऐसा कोई भी दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता । मध्ययुगीन अर्थ के कारण ही अवान्तर कालीन कुछेक शब्द कोषों में इसका अर्थ भी 'मारना' दिया है । प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र ही 'आ – लभ' का अर्थ स्पर्श करना ही है । इस सन्दर्भ में चरक संहिता का भी निम्न वाक्य द्रष्टव्य है –

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म... ।" (चिकित्सा स्थान १९/४)

इस लेख में स्पष्ट संकेतित है कि प्राचीन काल में पशु का समालभन (स्पर्श) होता था समालम्भन (हिंसा) नहीं । पश्चात् काल में 'लभ' और 'लम्भ' में अभेद करके 'लभ' का अर्थ भी 'लम्भ' वाला ही कर दिया गया जबकि अतिप्राचीन श्रौतयज्ञों में जीवपशु का 'आलभन' होता था । 'आलम्भन' नहीं । अर्थात् 'लभ' और 'लम्भ' के अर्थ में भेद है, दोनों का एक ही अर्थ नहीं है ।

पुरोडाश-पशु तो पूर्णतया अन्ननिर्मित होता है तथा इसमें किसी भी प्रकार का अमेध्य या अपवित्र मांस आदि का मिश्रण नहीं होता है । इस सन्दर्भ में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है –

यद् वीहिमयः पुराडाशो भवत्यपिहित्या असुविरत्वाय ।

(मैत्रायणीसंहिता ३।१०।२)

यद् व्रीहिमयः पुराडाशो भवति, तेनैव पशुरालभ्यते तेनैव पशुरालभ्यते शान्त्या अनिर्मार्गाय । (मैत्रायणी संहिता ४।३।६)

यहां 'आलभन' का 'मारना' अर्थ करने वाले बतावें कि पुरोडाश के द्वारा पशु को कैसे मारा जा सकता है ?

इस प्रकार इस 'पशु' अर्थात् समस्त हव्य अन्न, धृत, पुरोडाश आदि यज्ञ-सामग्री के आयतन या आश्रयभूत स्थल को ही 'यज्ञ' कहा गया है –

यज्ञो वै पशूनाम् आयतनम् । (मैत्रायणी संहिता ४।३।६)

अन्य हवनीय पदार्थ भी 'पशु' पद वाच्य हैं

यज्ञिय अन्न या पुरोडाश से भिन्न अन्य हवनीय पदार्थों को भी 'पशु' पद से अभिहित किया गया है । जैसे दुग्ध या दुग्धविकार घृत आदि भी जो यज्ञ में प्रयुक्त होता है, उसे 'पशु' नाम से निर्दिष्ट किया जाता है । यथा –

पयः पशवः (तैतिरीय संहिता २।५।५।१ तथा काठक संहिता १२।१)

पशवो वै पयः पशूनां हि पयः (काठक संहिता २७/४)

अर्थात् पशु का अर्थ ही पय या दूध है, क्योंकि पशुओं के ही पय होता है । जिस प्रकार स्वास्थ्य एवं आयु के निमित्तभूत घृत को अत्यन्तोपादेयता के कारण हम अभेदोपचार से सामान्यतया बोलचाल की भाषा में 'आयु वैं घृतम्' अर्थात 'घी' ही आयु है । यह कह देते हैं, उसी प्रकार यज्ञ में अत्यन्त उपादेय जो घृत है उसका निमित्त यह पशु ही होता है जिसके दुग्ध से हम घृत प्राप्त करते हैं । इसीलिए इस हवनीय घृत को यज्ञ में अभेदोपचार से 'पशु' भी कह दिया जाता है, जिसका संकेत निम्नग्रन्थों में भी द्रष्टव्य है –

पशवो वै घृतम् (मैत्रायणी संहिता ३।७।५, ७ तथा ४।२।१०, ११ काठक संहिता २४।४)

पशवो घृतम् (मैत्रायणी संहिता १।१०।७, ३।४।४, काठक संहिता २२।६ तथा ३६।१, कपिष्ठलकठ संहिता ३४।१)

एतद् वै पशूनां रूपं यद् घृतम् (काठक संहिता २८।४)

हिव निर्माण एव आहुति में यह घृत ही मुख्य घटक है । विना 'घृत' के किसी हवि का निर्माण नहीं होता है –

न हि हविरनभिघृतमस्ति (मैत्रायणी संहिता १।१०।२०)

यज्ञ में हवनीय सुगन्धित, आरोग्यपद, पुष्टिकारक एवं स्वास्थ्यवर्धक ओषधियों को भी 'पशु' नाम से अभिहित किया जाता है । इस सन्दर्भ में वैदिक ग्रन्थों के निम्न प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं –

ओषधयः पशवः (मैत्रायणी संहिता २।५।१)

ओषधयो वै पशवः (काठक संहिता २५।२ तथा कपिष्ठलकठ संहिता ३८।५)

पशवो वा ओषधयः (मैत्रायणी संहिता ३।८४ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।१।५)

### कुछ और महत्त्वपूर्ण प्रमाण

आयुर्वेदिक ग्रन्थ भावप्रकाश में लिखा है –

अजमोदा खराश्वाश्च मयूरी मोदकास्तथा ।

यहां अश्व, खर, मयूरी आदि नाम अजमोदा नामक ओषधि के बताए गए हैं । अश्वगन्धा का 'अश्व' के नाम से तथा सर्पगन्धा का 'सर्प' नाम से भी वर्णन मिलता है।इसी तरह सुश्रुतसंहिता में लिखा है -

अजा महौषधिर्ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरा ।

यहां 'अजा' भी ओषधि बतायी गयी है । तात्पर्य यह है कि गो, अश्व, अजा आदि जितने भी प्राणियों की यज्ञ में हिंसा बतायी गयी प्रतीत होती है वे सभी वस्तुतः हवनीय पदार्थ या ओषधियां ही समझनी चाहिएं। इन शब्दों के उभयार्थक होने से ही असुरों ने उनका हिंसापरक अर्थ करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया है ।

एक समय था जब कि हमारे इस आर्यावर्त्त देश में यज्ञों में रुधिर, मांस, अस्थि आदि डाल कर उसे भ्रष्ट व नष्ट करनेवाले असुरों का वध करने के लिए महर्षि विश्वामित्र महाराज दशरथ के पास जाकर उनके दो वीर पुत्रों, राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम में ले गये थे जबकि एक समय इस पवित्र भारत में ऐसा भी आ गया कि असुरोपम पण्डितगण स्वयं ही पशुओं को काटकर उन के रुधिर और मांस मज्जा आदि से आहुति देने का विधान कल्पित व निरूपित करने में ही वेद एवं यज्ञ की पवित्रता तथा सार्थकता समझने लगे तथा मध्यकालीन भाष्यकार भी अपने वेदभाष्यों में इन सबका ही अनुमोदन करने लग पड़े ।

शताब्दियों के अन्तराल के बाद १९ वीं शती में लिखा गया एक मात्र स्वा. दयानन्द सरस्वती का ही भाष्य ऐसा था जो इन सब दोषों हे अपने को मुक्त रखने में समर्थ हो सका । इसका एकमेव कारण यह था कि वे श्रौतसूत्रों के आधार पर अपना वेदार्थ न करके वेदमन्त्रों के अन्तरंग परीक्षण से श्रौतसूत्रों के क्रिया विधान की प्रामाणिकता स्वीकार करते थे । पता नहीं मध्यकालीन भाष्यकार-आचार्य सायण, उवट और महीधर आदि ने इस तथ्य को कैसे उपेक्षित कर दिया कि वेद 'स्वतःप्रमाण' हैं जब कि अन्य समस्त वेदमूलक याज्ञिक ग्रन्थ 'परतःप्रमाण' हैं । अतः उन्हें श्रौतसूत्रों के आधार पर वेदार्थ न देकर वैदिक मान्यताओं के आधार पर श्रौतसूत्रों की याज्ञिक क्रियाविधि को निरूपित कर मन्त्रार्थ प्रस्तुत करना चाहिए था ।

वैदिक पशुहिंसा के सन्दर्भ में महाभारत में लिखा है –

सुरां मत्स्यान् मधु माँसमासवं कृसरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत् प्रकल्पितम् ।। (शान्तिपर्व २६५। ९-१०)

अर्थात् यज्ञों में शराब, मांस, मछली, मांसमिश्रित अन्न आदि पदार्थों का प्रयोग धूर्तों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए लोभ, मोह तथा अविद्यादि के वशीभूत होकर ही किया है । वेदादि सद्ग्रन्थों में कहीं भी इसके विधान का संकेत उपलब्ध नहीं होता है ।

### पुराना अन्नबीज 'अज' है

अज-बलि के सन्दर्भ में महाभारत में ही एक संवाद निम्न प्रकार है-

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नाऽन्यः पशुरिति स्थितिः ।।
ऋषय ऊचुः-
बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतीः । अज-संज्ञानि बीजानि
छागं नो हन्तुमर्हथ ।
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै वध्यते पशुः ।(शांतिपर्व, अध्याय ३३७)

अर्थात्-'अज' से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा विधान है । वह 'अज'

बकरा ही है अन्य कोई पशु नहीं ।

इस पर ऋषियों ने कहा-''बीजों से यज्ञ करना चाहिए यही वैदिकी श्रुती है ।'अज' अन्न बीजों को कहा गया है अतः 'छाग' का वध नहीं करना चाहिए । जहां पशु जीव का वध होता है वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं ।''

'अज' उस अन्न-बीज को कहते है जिसमें जनन या प्ररोहण(उगने) की क्षमता नहीं होती । ऐसा बीज प्रायः तीन वर्ष या इससे भी अधिक पुराना ही माना जाता है । इस विषय में वायु पुराण का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है-

यज बीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
त्रिवर्षपरभं कालम् उषितैरप्ररोहिभिः । (उपरिचर कथा ५७।१००)

अर्थात हे सुरश्रेष्ठ ! उन बीजों से यज्ञ करो जिनमें हिंसा नही है । जो तीन वर्ष से अधिक पुराने और(खेत में) उगने में असमर्थ हों ।

वायु पुराण के इस श्लोक में 'अज' का अर्थ जन्म लेने में असमर्थ, अप्ररोही(उगने में अक्षम) अन्नबीज माना गया है । अब आप ही सोचें कि कहां तो अहिंसा प्रिय ऋषियों का उगने में समर्थ बीजों से भी यज्ञ न करने का निर्देश ! और कहां इन वैदिक ग्रन्थों एवं यज्ञों में पशुहिंसा की कल्पना ! है कोई इन में परस्पर सामञ्जस्य कहीं ?

महाभारत और पुराण प्रतिपादित 'अज' शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है । 'स्याद्वाद मञ्जरी' में लिखा है –

तथा हि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते । सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कडुकुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवासयन्ति । (श्लोक २३ की व्याख्या में, पृष्ठ १०७)

अर्थात् – वेद में 'अजों से यज्ञ करना चाहिए' इत्यादि वाक्य में मिथ्यादृष्टि वाले मूर्ख ही 'अज' शब्द को पशुवाचक कहते है । सम्यग्दृष्टि सम्पन्न तत्त्वार्थवेत्ता ज्ञानी तो जन्म के अयोग्य तीन वर्ष पुराने जो व्रीहि आदि, पांच वर्ष पुराने तिल मसूर आदि, तथा सात वर्ष पुराने कङ्कु सर्षप (सरसों) आदि धान्य के पर्याय रूप में ही इस 'अज' शब्द का अर्थ परिणत करते है ।

'पञ्चतन्त्र' नामक संस्कृत के प्रख्यात कथा ग्रन्थ के प्रणेता कथाकार आचार्य विष्णुशर्मा ने भी लिखा है –

''एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतद् ,उक्तम् ''अजैर्यष्टव्यम्'' इति । अजा व्रीहयस्तावद् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषाः।'' (काकोलूकीयम् कथा ३)

अर्थात् जो वैदिक लोग यज्ञकर्म में पशुओं को मारते है वे मूर्ख लोग वेद के तत्त्वार्थ को जानते तक नहीं । वेद में जो यह लिखा है कि 'अज' से यज्ञ करना चाहिए (अज-बलि करनी चाहिए) उसका अभिप्राय यह है कि सात वर्ष के पुराने धान से (सात वर्ष के पुराने धान में प्रजनन-क्षमता निश्चित ही पूर्णतया नष्ट हो जाती है इसीलिए उसे 'अज' इस पारिभाषिक नाम से प्राचिन काल में यज्ञों में जाना जाता था) यज्ञ करना चाहिए । वहां 'अज' का अर्थ छाग या भेड़ बकरा नहीं है ।

स्वर्ग या अदृष्ट की कामना से यज्ञों में बेचारे मूक पशुओं की हिंसा करने को उतारू ब्राह्मणों पर अत्यन्त कटु व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है –

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ।।

अर्थात् हरे भरे वृक्षों की फूल पत्तियों या डालियों को उजाड़कर, निरीह पशुओं की यज्ञ में हत्या करके नाना प्रकार से खून-खराबा करते हुए जो लोग स्वर्ग जाने की कल्पना करते हैं या स्वर्ग का ठेका लिए हुए हैं, वे ही बतावें कि भला नरक कैसे जाते हैं ? अर्थात् यह सब कर्म तो स्वर्ग के बजाय उल्टे हमको नरक ही प्राप्त कराने के कारण बन जायेंगें ।

इसी प्रकरण में अगला श्लोक भी पठनीय है –

हिंसकान्यपि भूतानि यो हिनस्ति स निर्घृणः ।
स याति नरकं घोरं किं पुनर्यः शुभानि च ।। (काकोलूकियम्, श्लोक १०६)

अर्थात् व्याघ्र, चीता आदि हिंसक जन्तुओं का भी जो व्यक्ति अकारण ही मात्र मनोरंजन के लिए शिकार करता फिरता है, वह निर्दयी नरक को प्राप्त करता है । फिर जो अहिंसक एवं दुधारू गाय, बकरी आदि शुभकारी पशुओं का वध करेगा वह क्यों नहीं नरक (दुःखविशेष) को प्राप्त करेगा ।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध में हमने अति संक्षेप में वैदिक ग्रन्थों एवं यज्ञों में पशुहिंसा-विधान की मिथ्या व भ्रान्त-धारणा का कारण और उसके वास्तविक रहस्य पर प्रकाश डालने का एक लघु प्रयास किया है । वैदिक ग्रन्थों का ठीक से अध्ययन न करने और उनके गूढ़ संकेतों को न समझने के कारण ही अज्ञानजन्य अनेक अवैदिक एवं तर्कहीन मान्यताओं ने जन्म लेकर हमारी पवित्र भारतीय संस्कृति पर जो कुठाराघात किया है उसका निवारण शायद शीघ्र संभव नहीं है । आश्चर्य तो इस बात का है कि आज भी अनेक तथाकथित अज्ञानी वैदिक पण्डित पूर्वाग्रह-ग्रस्त हो आज के प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में भी एवंविध मान्यताओं के पोषक हैं तथा वे अपने मन्त्र-भाष्यों में भी इन्हीं सबका प्रतिपादन करते हुए अपनी विद्या और बुद्धि को कृतार्थ समझते हैं ।

मध्यकालीन संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थों में यज्ञों में पशुहिंसा का उल्लेख इसी प्रकार के अज्ञान मूलक वैदिक मन्त्रार्थों और तत्त्वार्थ से दूर लोभमूलक तामसिक कर्मकाण्डों के कारण हुआ, जिसका कुप्रभाव यह पड़ा कि प्राचीन वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ किन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य में पारंगत विद्वानों एवं साधारण जनों में यह भ्रान्ति अत्यन्त परिपक्व होकर उनके अन्तर्मन में बैठ गयी कि यज्ञों में पशुहिंसा वेद-विहित है ।

इन सब धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में मुख्यतः 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामक ग्रन्थ हमें तर्कपूर्ण तथा लुप्तप्रायः अतिप्राचीन वैदिक दृष्टिकोण या आधुनिक भाषा में कहें तो 'अभिनव दृष्टिकोण' से वेद के विषय में विचारने को बाध्य कर देता है । वैदिक सिद्धान्तों के प्रत्येक जिज्ञासु के लिए यह ग्रन्थ निश्चय ही पठनीय है ।